



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2016; 2(6): 55-57

© 2016 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 12-09-2016

Accepted: 13-10-2016

डॉ. राजू राठौर

अतिथि विद्वान (संस्कृत), शा. महर्षि
अरविन्द महाविद्यालय, गोहद जिला
भिण्ड (म०प्र०)

हिन्दू-संस्कृति में आश्रम व्यवस्था

डॉ. राजू राठौर

हिन्दू संस्कृति में आश्रम व्यवस्था का उत्कर्ष धर्मशास्त्री आचार्यों ने सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित किया है। संस्कृति मानव मूल्यों का संस्करण है। कर्मपुराण में आश्रम व्यवस्था का सम्यक् रूप उपलब्ध है। हमें हिन्दू होने का गौरव प्राप्त है। मानव स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है और वह समुदाय में रहते आया है। इस प्रवृत्ति में परिवार रूपी संस्था को जन्म दिया। परिवार के अस्तित्व में ही गृहस्थाश्रम की स्थिति निश्चित हो जाती है। इसी प्रकार वैदिकाकाल में पूर्व ब्रह्मचर्य के पालन, तपस्या, गृह-त्याग आदि आचरणों से इतर आश्रमों के अस्तित्व की भी पृष्टि हो जाती है। यद्यपि वेदों में आश्रम शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु विद्यार्थियों, गृहस्थों, मुनियों तथा यतियों के उल्लेख से कमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम की पृष्टि होती है। काणे के अनुसार आश्रमचतुष्टय के आधार पूर्ववैदिक काल में ही वर्तमान थे, यह निर्निवाद है। मनु एक स्थान पर आश्रमों के विधि-निषेधों की चर्चा विस्तारपूर्वक करते हैं। वस्तुतः प्रारंभ में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों को पृथक विभाजन न था। अतः मनु ने तीन आश्रमों का उल्लेख किया। कालांतर में इन दोनों के पृथक-2 किये जाने पर आश्रमों की संख्या चार मानी गई।

इन आश्रमों के पालन के विषय में जाबालोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मचारी के बाद गृहस्थ, गृहस्थ के बाद, वानप्रस्थी और वानप्रस्थी के बाद परिव्राजक या भिक्षु बनना चाहिए। यह एक साधारण क्रम था। जिसका पालन अधिकांश लोग करते थे। इस क्रम का उल्लंघन भी पाया जाता था। अनेक लोग ब्रह्मचर्य के बाद सीधे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे।¹

शब्दकल्पद्रुम-कोष के अनुसार – “हीनं दूषयति इति हिन्दुः” जो हीनता को स्वीकार न करें, वह हिन्दू है।

परिजातहरण नामक किसी प्राचीन नाटक से एक और श्लोक उद्धृत किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि वह हिन्दू है जो शस्त्र और शास्त्र दोनों में निष्णात है।

हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्

हेतिभिः शत्रुवर्गं च हिन्दुः अभिधीयते।

जो अपनी तपस्या से दैहिक पापों और चित्त को दूषित करने वाले दोषों को नाश करता है तथा जो शस्त्रों से अपने शत्रु समुदाय का भी संहार करता है, वह हिन्दू है। स्पष्ट है कि वह परशुरामवाद की अवधारणा है। परशुराम की प्रतिज्ञा थी –

मुखे तु सकलं शास्त्रं पृष्ठे च सशरं धनुः

इदं ब्राह्मम् इदं क्षात्रं, शापादपि शरादपि।

लगता है, यह परिभाषा तब बनी होगी जब विदेशी आक्रमणों से अपने धर्म और धन, दोनों की रक्षा के लिये हिन्दू समाज कटिबद्ध हो उठा था। जनक और परशुराम दोनों हिन्दू इतिहास के प्रबलतम पुरुष थे और हिन्दुओं की श्रद्धा दोनों पर रही है। मुस्लिम आगमन के बाद कबीर और नानक ने, व्याजान्तर से, जनक-मार्ग को श्रेष्ठ माना और परशुराम के नये अवतार गुरु गोविन्द सिंह हुये। भोग और वैराग्य के बीच द्वन्द्व छिड़ने पर भारत जनक-धर्म का आश्रय खोजता है। इसी प्रकार जब हिंसा और धर्म-साधना के बीच संघर्ष उठाना होता है तब भारतवासी परशुराम की याद करते हैं।

भारतवर्ष का नाम आर्यावर्त नहीं हिन्दुस्तान होना चाहिए। यह अनुभूति भी नवीन नहीं है। बृहस्पति-आगम में एक श्लोक आया है –

हिमालयं समारम्य यावद् इन्दुसरोवरम्

तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते।

Correspondence

डॉ. राजू राठौर

अतिथि विद्वान (संस्कृत), शा. महर्षि
अरविन्द महाविद्यालय, गोहद जिला
भिण्ड (म०प्र०)

इन्दु सरोवर से अभिप्राय यहां कुमारी अन्तरीप से है। यह भी ध्यान देने की बात है कि संस्कृति भाषी भारतवासी विद्वान हिन्दुस्तान के बदले 'हिन्दुस्थान' लिखना पसंद करते थे। हिन्दू शब्द के भीतर जो अर्थ पहले कुछ धीमा था, वह आधुनिक युग में आकर भली-भांति सुस्पष्ट हो गया है।² धर्मशास्त्रीय आचार्यों ने ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास इन चार आश्रमों की स्थापना की।।

.....स्थापयामास चाश्रमान्।
गृहस्थं च वनस्थं च भिक्षुकं ब्रह्मचारिणाम्।।³

अग्नि्यों (गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि) की उपासना, अतिथि-सेवा, यज्ञ, दान एवं देवाताओं की पूजा यह गृहस्थ का धर्म है। हवन, कन्द-मूल-फलका सेवन, स्वाध्याय तथा तप, न्यायपूर्वक विभाजन-यह वानप्रस्थों का धर्म है। भिक्षावृत्ति से प्राप्त पदार्थों को सेवन, मौनव्रत, तप, सम्यक्-ध्यान, सम्यक्-ज्ञान तथा वैराग्य यह सन्यासियों का धर्म है। भिक्षा मांगना, गुरु की सेवा करना, स्वाध्याय, संध्या-कर्म यह ब्रह्मचारियों का धर्म है। कमल से प्रादुर्भूत ब्रह्मा जी ने ब्रह्मचर्य को ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संयासी का साधारण धर्म कहा है अर्थात् ब्रह्मचर्य तीनों आश्रमियों का सामान्य धर्म है। यथाशक्ति प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय, श्राद्ध, अतिथि सेवा तथा देवताओं की पूजा यह गृहस्थ को श्रेष्ठ धर्म है। किसी दूसरे देश में जाने पर अथवा पत्नी के मर जाने पर भी ग्रहस्थ को चाहिए कि वह प्रातः काल और सायंकाल विधि पूर्वक विवाहाग्नि (गार्हपत्याग्नि) को प्रज्वलित करता रहे। गृहस्थ आश्रम को तीनों आश्रमों का बीज कहा जाता है, क्योंकि तीनों आश्रमों के लोग गृहस्थ आश्रम पर ही निर्भर रहते हैं। इसलिये गृहस्थ आश्रमी सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। वेदों का अभिमत है कि केवल गृहस्थ आश्रम में ही अन्य तीनों आश्रमों का समावेश होता है। इसलिये एकमात्र गृहस्थ को ही धर्म का साधन जानना चाहिए।

त्रयाणामाज्ञमाणां तु गृहस्थो योनिरुच्यते।
अन्ये तमुपजीवन्ति तस्माच्छेयान् गृहाश्रमी।।
ऐकाश्रम्यं गृहस्थस्य त्रयाणां श्रुतिदर्शनात्।
तस्माद् गार्हस्थ्यमेवैकं विज्ञेयं धर्मसाधनम्।।⁴

ऊर्ध्वरेता अष्टासी हजार (शौनक आदि) ऋषियों का जो स्थान है वही स्थान गुरु के अन्तेवासी ब्रह्मचारियों को प्राप्त होता है। सप्तर्षियों को जो स्थान है वही स्थान वन में रहने वाले वानप्रस्थियों को प्राप्त होता है। और स्वयम्भू ब्रह्मा ने गृहस्थों के लिये प्राजापत्य स्थान की प्राप्ति बतलाई है। समाहित-चित्त यातात्मा ऊर्ध्वरेता संयासियों को हिरण्यगर्भ नामक वह स्थान प्राप्त होता है जहां से पुनः लौटना नहीं पड़ता। योगियों को अभिनाशी व व्योमसंज्ञक श्रेष्ठ अमर स्थान प्राप्त होता है। जो आनन्द स्वरूप और ऐश्वर्य धाम है वहीं पराकाष्ठा (अंतिम) और परम गति है। सभी कर्मों का परित्याग कर एकमात्र अचल समाधि में निरंतर स्थिर रहने वाला जो निश्चल योगी है वही सन्यासी होता है, अतः चार ही आश्रम होते हैं पाँचवा कोई आश्रम नहीं होता।

सर्वकर्माणि संन्यस्य समाधिचलं श्रितः।
य आस्ते निश्चलो योगी स संन्यासी न पंचमः।।⁵

आश्रम व्यवस्था से ही भारतीय संस्कृति प्रकाशवान है। हिन्दू भारतीयता का शीर्ष बिंदु है। आश्रम व्यवस्था उसकी पृष्ठ भूमि है। भारतीय संस्कृति मानव जीवन के सर्वग्राही आत्मिक जीवन स्वरूपों की सृष्टि और उनका उपभोग है। एक उपलब्धि के रूप में मानवीय संस्कृति क्रमशः वर्तमान और एतेहासिक होती है। पुनः संस्कृति उस बोध या चेतना को कहते हैं जिसका सार्वभौम्य उपयोग स्वीकार हो सकता है और जिसकी विषय वस्तु सत्ता के वे पहलू हैं जो

निर्वैयक्तिक रूप में अर्थवान है। डॉ० महादेवी वर्मा के अनुसार संस्कृति एक जीवन पद्धति है यह न केवल बाह्य, स्थूल और पार्थिव है और न मात्र आंतरिक सूक्ष्म और अपार्थिव। वस्तुतः उसकी ऐसी दोहरी स्थिति है जिसमें मनुष्य के सूक्ष्म विचार, कल्पना एवं भावना का संस्कार, उसकी चेष्टा, आचरण एवं कर्म आदि के परिष्कार में व्याप्त होता है। और फिर चेष्टा आचरण आदि वाह्यचार की परिष्कृति उसके अंतर्जगत् पर प्रभाव डालती है। सभ्यता, संस्कृति का पर्याय नहीं है क्योंकि व किसी मनुष्य के मात्र भ्रदाचार या सभा के उपयुक्त आचार्य को ही व्यक्त करती है।⁶ जिस प्रकार वर्ण व्यवस्था का प्रयोजन समाज में कार्यों का विभाजन था उसी तरह आश्रम व्यवस्था का प्रयोजन जीवन पद्धति का निरूपण था। उत्तर-वैदिक काल की जीवन पद्धति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया था। अतः जीवन पद्धति के लिये वैदिक आदर्श ही अंगीकृत हुये। मनु के अनुसार - "ब्रह्माण आदि चारों वर्ण, पृथ्वी आदि तीनों लोक तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम इन सबका आधार वेद ही है। जीवन पद्धति को वैविध्यपूर्ण एवं अवस्थानुकूल बनाने हेतु तथा जीवन की एकसरता दूर करने के लिये और व्यक्ति के माध्यम से समाज के सर्वांगीण विकास के लिये भारतीय धर्मशास्त्रों ने जीवन को 4 भागों में विभाजित किया है। 'शतायुरुक्तः पुरुष, आयुषस्तु चतुर्भाग'। एतदनुसार चार आश्रमों का विधान अवस्थानुकूल से किया गया है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम। बौधायन, गौतम, वशिष्ठ, मनु आदि सभी ने कम से आश्रम-चतुष्टय का उल्लेख किया है। गृहस्थ आश्रम को सामाजिक अभ्युत्थान का मूलाधार माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रम का महत्व भी कम नहीं था। क्योंकि यही आश्रम तीनों आश्रमों की तैयारी का काल माना जाता है।⁷

विष्णु भगवान ने कूर्म अवतार धारण कर इन्द्रद्युम्न नामक विष्णुभक्त राजा को इस पुराण का उपदेश दिया था इसलिये कूर्मपुराण के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें शिव ही मुख्य देवता के रूप में वर्णित है। इस पुराण की केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध होती है। और उसी का नाम कूर्म पुराण है इसमें 6000 श्लोक हैं इसमें विष्णु शिव के रूप में तथा लक्ष्मी गौरी की प्रतिकृति बतलाई गयी है। अन्य पुराणों की अपेक्षा कूर्मपुराण में आश्रमधर्म का निरूपण व्यापक रूप से हुआ है। इसमें ब्रह्मचारी के धर्म एवं नित्यकर्म की विधि, गृहस्थ के धर्म एवं नित्य नैमित्तिक कर्म, वानप्रस्थी के कर्तव्यों का निरूपण एवं संयास धर्म का प्रतिपादन सुष्ठु रूप से हुआ है। कूर्मपुराण में आश्रम व्यवस्था के विषय में यह उल्लेख है -

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
क्रमेणैवाश्रमाः प्रोक्ताः कारणादन्यथा भवेत्।।
उत्पन्न ज्ञानविज्ञानो वैराग्यं परमं गतः।
प्रवजेद् ब्रह्मचर्याद् तु यदीच्छेत् परमां गतिम्।
दारानाहृत्य विधिवन्थथा विविधैर्मखैः।
यज्ञेदुत्पादयेत् पुत्रान् विरक्तो यदि सन्यसेत्।।
वानप्रस्थाश्रम गत्वा न गृहं प्रविशेत् पुनः।
न सन्यासी वन चाथ ब्रह्मचर्यं न साधकः।।⁸

कूर्मपुराण में वर्णित मानव मूल्य आश्रमधर्म के गुणाकार है। ब्रह्मचर्य आश्रम की महत्ता को स्वीकार करते हुये मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि 'सत्य, तपस्या, ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य ज्ञान रूपी प्रदीप के लिये तैल रूप है। और संसार समुद्र में पथ भ्रष्ट प्राणियों के लिये आकाश दीप के समान है। इसी ब्रह्मचर्य के पालन से आध्यात्मिक त्रिविध उन्नति करता हुआ मानव परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता था। ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इच्छा मृत्यु भी भीष्म पितामह को ब्रह्मचर्य के पालन से प्राप्त हुयी। यह अधिभौतिक उन्नति को देने वाला है। कालिदास की यह उक्ति प्रसिद्ध ही है 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।' वस्तुतः स्थूल शरीर रक्षा के बिना मनुष्य सर्वांगीण उन्नति नहीं कर सकता। स्वास्थ्य, ब्रह्मचर्य पालन पर ही निर्भर है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी के समस्त ऋण ज्ञानोपार्जन से उऋण हो जाते हैं। उसे ऋणमय से मुक्त होने की आवश्यकता नहीं। उसके ऋण ज्ञान-यज्ञ में ही लय हो जाते हैं। गुरुकुलों के पवित्र वायुमण्डल में पल्लवित ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करने वाले, समाज को भी एक उत्तम, नैतिक सदाचार से पूर्ण व आदर्श वातावरण दे पाने में सक्षम है। ब्रह्मचर्य- वानप्रस्थ-संयास आश्रम की अपेक्षा कूर्मपुराण के रचयिता ने गृहस्थ आश्रम की व्यापक समीक्षा प्रस्तुत की है। तीनों आश्रमों का पोषक तथा आश्रयदाता मानने के कारण गृहस्थ आश्रम का विशेष महत्व है। प्रत्येक मानव के हृदय में रतिभाव होता है किंतु यदि इस विलास भावना को मुक्त भोग की ओर उन्मुख कर दिया जाये तो मानवता का विनाश अनिवार्य होगा। सामाजिक मान्यताओं और व्यवस्थाओं के संचालन के लिये एक पुरुष व स्त्री को परस्पर धर्म भावना के साथ बांधकर विवाह संस्कार द्वारा गृहस्थ आश्रम का विधान किया गया था। गृहस्थ आश्रम में रहकर व्यक्ति परस्पर सहयोग, स्वार्थ, त्याग, दूसरों के लिये कष्ट उठाने जैसे गुणों से समाहित होता है। गृहस्थ आश्रम सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति में सहायक है। तीन प्रकार के ऋणों से उऋण होने के लिये उत्तम आश्रम है। विशेष रूप से पितृ ऋण से उऋण होने के लिये तो पुत्रोत्पत्ति अनिवार्य है। जो केवल गृहस्थ आश्रम में ही संभव है।⁹

संदर्भ-संकेत

1. महाभारत कालीन समाज-पृष्ठ -42। लेखक नत्थूलाल गुप्त, नमन प्रकाशन, दिल्ली सन् 2002।
2. संस्कृति के चार अध्याय- पृष्ठ -83। लेखक रामधारी दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, सन् 2010।
3. कूर्मपुराण - 2/39।
4. कूर्मपुराण - 2/50।
5. कूर्मपुराण - 2/73।
6. निराला : प्रतिनिधि कविताओं का सांस्कृतिक विश्लेषण। लेखक अहिचरन सिंह, संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् 1999।
7. महाभारत कालीन समाज-पृष्ठ -42।
8. कूर्मपुराण - 3/2-4,8।
9. भारतीय धर्म शास्त्रों में संयास आश्रम पृष्ठ -42। लेखक विवेक ज्योति, क्लासिकल पब्लिशिंग, नई दिल्ली।